

आदिम मिट्टी जैसा ताजा आरंभ



प्रफुल्ल कोलख्यान

बहुत दिनों पर घर आया हूँ
पूछ रहा हूँ घर !
कच्ची लोनी मिट्टीवाला
चूल्हे और अंगीठी वाला
गर्म महकता घर !
दूध भरे थन-सा धरती पर
झुका हुआ वह घर !
बंधा हुआ खूँटे से
वह हर साँझ रंभाता घर !
बहुत दिनों पर घर आया हूँ,
खोज रहा हूँ घर !
किस्सों के जंगल में
वह हर बार खो गया घर !¹

1. माघ में बुद्ध और बाघ

‘बाघ’ केदारनाथ सिंह के कवि संघर्ष की विशिष्टताओं का सर्वोच्च सोपान है। केदारनाथ सिंह की कविता में यथार्थ और स्वप्न का जो अंतरंग आवागमन होता है, ‘बाघ’ कविता में उसकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति संभव हो पाई है। कहना न होगा कि ‘बाघ’ कविता ने यथार्थ और भाषा के टकरावों के ही नहीं, अंतरवलंबनों के भी, कविता में ढल जाने की असीम संभावनाओं को स्वप्न और संघर्ष की अनिवार्य चाक्रिक गत्यात्मकता के साथ अपने रचाव में हासिल कर लिया है। जाहिर है, यथार्थ और भाषा के टकरावों एवं अंतरालंबनों के

बीच से सत्य और स्वप्न -- जिसे किन्हीं खास संदर्भों में, विभ्रम भी कहे जाने पर एतराज नहीं उठाया जाना चाहिए -- को समझने और बरतने में सृजन-सापेक्ष सलूक की नई दिशाओं को 'बाघ' कविता तह-दर-तह उद्धाटित करती है। यह कहना और मान लेना पर्याप्त नहीं है कि 'बाघ' कविता लोक संवेदना की पारंपरिक ऐंद्रिकता को भाषा के सीमांत पर कुतूहल या अचंभे के नाटकीय रचाव में बदलकर, पाठक को सम्मोहन के ऐसे पाश में ले लेती है कि उसे यथार्थ नहीं यथार्थ की परछाई अधिक प्रामाणिक और ग्राह्य लगती है; और ऐसा लगना यथार्थ को नरम बनाता है, उसके तीखेपन एवं लौ को कम कर देता है। 'बाघ' की व्याप्ति ही नहीं, उसकी दीप्ति भी अद्भुत है। शक के निषेध की तमाम कोशिशों के बावजूद, केदारनाथ सिंह की कविता के मन में सत्य और स्वप्न को लेकर हमेशा संदेह बना रहता है। इस संदेह से उबरने में ही उनका सामना बार-बार यथार्थ से भी होता है और स्वप्न से भी होता है। कोई एक चीज जो मूल्यवान हो सकती थी, हमेशा केदारनाथ सिंह की कविता में खोयी रहती है, न सिर्फ खोयी हुई रहती है, बल्कि खो जाने का एहसास जितना तीखा होता जाता है उस चीज की मूल्यवत्ता और उनकी कविता की गुणवत्ता भी उतनी ही बढ़ती जाती है। वह नूर मियाँ भी हो सकते हैं, घर भी, दूब भी या पानी पर कभी पड़ी किसी अद्भुत चीज की परछाई भी, यानी कोई ऐसा भाव-बोध जिसे उसी तरह से भाषा में पा लेना मुश्किल होता है, जिस तरह की प्रतीति कवि के मन में अचानक उभर आती है। वह भाव-बोध भाषा में हासिल नहीं हो पाता है, भले ही हू-बहू मिल जाने का आश्वासन -- जिस पर कवि ने कभी शक न किया - - दिया हो अपने समय के अद्भुत कवि के संघर्ष ने! केदारनाथ सिंह का कवि मन विश्वास तो कर लेता है, कम-से-कम शक तो नहीं करता है, लेकिन तलाश पूरी नहीं हो पाती है, 'मैंने कहा-- 'शास्त्री जी,/ बच्चा रो रहा है/ कुछ तो करना होगा'// बोले-- 'चलो ले आते हैं/ दूसरा बाघ' मैंने कहा-- 'नहीं, वह जिद पर पड़ा है/ उसे चाहिए वही/ और सिर्फ वही बाघ/ जोकि टूटने से पहले वह था'// वे हिले/ फिर उनकी आँखों में आ गई/ एक अद्भुत चमक/ बोले-- 'चलो, वही ले आते हैं'// मैंने पूछा-- वही! वही कहाँ मिलेगा?'/ 'मिलेगा'-- उन्होंने कहा--/ 'कहीं न कहीं/ किसी कुम्हार की आँखों में/ होगा जरूर/ जस का तस'// मैंने शक नहीं किया/ हो लिया उनके साथ/ तब से कितना समय बीता/ हम अब भी चल रहे हैं/ आगे-आगे कवि त्रिलोचन/ पीछे-पीछे मैं/ एक ऐसे बाघ की तलाश में/ जो एक सुबह धरती पर गिरकर/ टूट जाने से पहले/ वह था।'² वह 'बाघ' मिलता नहीं है, लेकिन चलना अब भी जारी है। असल में 'बाघ' है कुम्हार की आँख में और कुम्हार की आँख? वह है कभी आँवा की आग में, तो कभी घूमते हुए चाक के केंद्र में। कुम्हार चाक पर मिट्टी के लोदे को नहीं अपनी रोटी को नाचता हुआ देखता है; सो आँख में है रोटी, रोटी में छिपकर सो रहा है बाघ, जैसे चुप-चाप घुसकर रोटी में उठंगा रहता है नमक। ऐसा कुम्हार अब दुर्लभ ही है, जो ऊपर से चोट करे और भीतर से दे सहकार। सो एक दिन दीवार पर टँग जाता है बाघ। संभावनाओं से लदबद हमारे समय में सभी जगह बाघ की

संभावना होती है, बाघ कहीं नहीं होता है! क्या पता होता भी हो, लेकिन मिलता न हो बाघ--- आत्म-पहचान, शक्ति और मुक्ति की तरह।

न हो कहीं बाघ, पर बाघ की खोज तो है! केदारनाथ सिंह की कविता में यह खोने का भाव अचानक उत्पन्न होता है और पूरे काव्य-तत्त्व का सार और विस्तार बनकर उपलब्ध होता है। सामान्यतः सार में विस्तार नहीं होता, लेकिन केदारनाथ सिंह की कविता में होता है। यह एक असामान्य स्थिति है। इसी असामान्य स्थिति का संबंध केदारनाथ सिंह की कविता की असामान्य विशिष्टताओं से है। बाघ गिरता नहीं है अचानक, टूटता है अचानक। ‘सवेरे-सवेरे/ एक बच्चा रो रहा था/ उसके हाथ से गिरकर/ अचानक टूट गया था/ उसका मिट्टी का बाघ/ एक छोटा-सा सुंदर बाघ/ जो तारों से लड़ चुका था/ जो लड़ चुका था चाँद और सूरज/ और समुद्री डाकुओं से/ ठीक उसकी आँखों के आगे/ उसके हाथ से गिरा/ और खट से टूट गया’³। मनुष्य की निर्मिति और प्रकृति दोनों से अपने स्तर पर केदारनाथ सिंह संवाद करते हैं। प्रकृति के अवदान तो खोकर भी, किसी-न-किसी रूप में हासिल हो जाते हैं, संदेह हमेशा मनुष्य की निर्मिति को लेकर बना रहता है। सचमुच हमारे जीवन से दूर होती जा रही है दूब। अज्ञेय को मुहलत थी, उपलब्ध थी दूब, हरी घास पर, क्षणभर ही सही, बैठ सकते थे वे आँख बचाकर। घास और दूब का अंतर अपनी जगह, लेकिन केदारनाथ सिंह को तलाशनी पड़ती है दूब, बेकली के साथ कहते हैं, ‘निकलता हूँ मैं/ दूब की तलाश में/ खोजता हूँ परती-पराठ/ झाँकता हूँ कुँओं में/ छान डालता हूँ गली चौराहे/ मिलती नहीं दूब/ मुझे मिलते हैं मुँह बाये घड़े/ बाल्टियाँ लोटे परात/ झाँकता हूँ घड़े में/ लोगों की आँख की कटोरियों में/ झाँकता हूँ मैं/ मिलती नहीं/ मिलती नहीं दूब// अंत में/ सारी बस्ती छानकर/ लौटता हूँ निराश/ लाँघता हूँ कुँए के पास की/ सूखी नाली/ कि अचानक मुझे दिख जाती है/ शीशे के बिखड़े हुए टुकड़े के बीच/ एक हरी पत्ती/ दूब है/ हाँ-हाँ दूब है--/ पहचानता हूँ मैं// लौटकर यह खबर/ देता हूँ पिता को/ अँधेरे में भी/ दमक उठता है उनका चेहरा/ ‘है-- अभी बहुत कुछ है/ अगर बची है दूब...’ बुदबुदाते हैं वे’⁴। ‘लोगों की आँख की कटोरियों में’ भी नहीं मिलती है, मिलती है ‘शीशे के बिखड़े हुए टुकड़े के बीच’। संस्कृति के बिखड़े हुए टुकड़े के बीच बची रहती है प्रकृति की आदिम अभिव्यक्तियाँ और सहज ही चली आती हैं, केदारनाथ सिंह की कविता में। चली आती हैं, उनके आने पर शक नहीं लेकिन साथ में आ ही जाती है दुविधा उनके वही होने पर जो कि आदिम समय में वे थीं। खोये हुए का बोध, उसे ढूँढना और पाना और पाकर भी उसे नहीं पाना-- संस्कृति के घर में वर्तमान और अतीत की निरंतर जारी आवाजाही-- संघर्ष की स्वाभाविक प्रक्रिया है। एक संघर्ष के बाद इतिहास बनता है और इतिहास बताता है कि इस संघर्ष में सबसे पहले वह चीज नष्ट हो जाती है जिसके लिए कि संघर्ष वस्तुतः शुरू होता है-- जैसे कि हस्तिनापुर। इतिहास बताता है कि “..विचारणीय यह है कि कैसे लोग लड़ते और हारते हैं, और जब उनकी हार के बावजूद

वह मिल जाता है जिसके लिए वे लड़े थे तो पाते हैं कि यह वह तो नहीं है जिसके लिए वे लड़े थे, और फिर उसके लिए दूसरे लोग दूसरे नाम से लड़ते हैं (विलियम मॉरिस, ए ड्रीम ऑफ जॉन बाल, 1887)।”⁵

कहना न होगा कि हार-- हार न होती तो देश-विभाजन नहीं होता, न जाने के लिए मजबूर होते नूर मियाँ-- के बावजूद हमें वह चीज मिली जिसका नाम आजादी है, तो यह वही नहीं थी, जिसके लिए वह पीढ़ी लड़ रही थी। एक ऐसी अनमोल चीज थी जो मिलकर भी खो गई थी और खोयी रहकर भी मिली हुई थी। केदारनाथ सिंह का जन्म जिस परिवेश में हुआ वह ऐसा ही था। केदारनाथ सिंह कहते हैं, ‘मेरे पिता जी के कारण एक खास तरह की राजनीतिक गहमा-गहमी बराबर बनी रहती थी। प्रायः मेरे बैठक पर स्थानीय काँग्रेस जनों की बैठकें हुआ करती थीं, जिनमें शामिल होनेवालों में चित्तू पाण्डे भी हुआ करते थे। वे भोजपुरी के विलक्षण वक्ता थे उनकी गरजती हुई वाणी मुझे आज भी याद है, पर जो घटना सबसे अधिक गहराई के साथ मेरे मन में अंकित है, वह है सन् 1942 का गोली कांड, सन् 42 के आंदोलन में मेरे जिला बलिया ने जो ऐतिहासिक भूमिका निभाई थी वह सब इतिहास का विषय बन चुका है। मैं उस समय प्राइमरी स्कूल का छात्र था और 9 अगस्त 1942 को बैरिया थाने पर जो पुलिस की गोलियों से भीषण नर संहार हुआ, उसे एक पेड़ की ओट में खड़े होकर अपनी बाल्य आँखों से मैंने भी देखा था। जो लोग थाने में घिर गये थे, उनमें मेरे पिता जी भी थे और जब वे बाहर निकले तब वे खून से रंगे हुए थे। दमन और अत्याचार का यह पहला भयावह दृश्य था, जो लंबे समय तक मुझे मथता रहा।स्वाधीनता की एक जो रोमांचकारी अनुभूति थी, उसकी स्मृति मुझे आज भी है।’⁶ जाहिर है इतिहास और वर्तमान की रस्साकशी में खोने और पाने का अर्थ कविता में अपने सारांश को बदलकर ही महत्वपूर्ण होता है। केदारनाथ सिंह के समकालीन श्रीकांत वर्मा की कविता भी इस प्रक्रिया से बार-बार जुड़ती है। इसके बावजूद केदारनाथ सिंह और श्रीकांत वर्मा की दृष्टि का अंतर साफ है, ‘कोसाम्बी का पता पूछती/ वासवदत्ता/ कोसांबी तक/ पहुँच गयी है।’⁷ और मगध? ‘न मगध है, न मगध/ तुम भी तो मगध को ढूँढ़ रहे हो/ बन्धुओ,/ यह वह मगध नहीं/ तुमने जिसे पढ़ा है/ किताबों में,/ यह वह मगध है जिसे तुम/ मेरी तरह गँवा/ चुके हो।’⁸ वासवदत्ता के कोसांबी तक पहुँच जाने का संतोष और मगध को पूरी तरह गँवा देने की हताशा के साथ कोसल में विचारों की कमी से यह अंतर साफ है और ‘वे सिर्फ कुछ प्रश्न छोड़ गये हैं/ जैसे कि यह--/ कोसल अधिक दिन टिक नहीं सकता,/ कोसल में विचारों की कमी है!’⁹ श्रीकांत वर्मा की कविता में यह बात रेखांकित है कि सुने जाने का रिवाज खत्म हो जाने पर सोचे जाने के अभाव का हाहाकार ही बचता है। केदारनाथ सिंह की कविता में नगरवासी सोचते हुए पाये जाते हैं-- नगरवासी सोचते हैं, भले ही सोचते हुए कभी-कभी करुणा को कंबल की तरह ओढ़ लेते हैं, मगर सोचते हैं। सोचते हैं बुद्ध के बारे में, बाघ के बारे में और तेज

हवाओं के बारे में भी। प्रकृति जब प्यार करती है तो उसके लिए बुद्ध और बाघ में अंतर नहीं होता है; प्रकृति जब सिहराती और हिलाती है तब भी उसके लिए बुद्ध और बाघ में कोई अंतर नहीं होता है, 'पर कभी-कभी रातों में/ जब हिमालय की चोटियों पर/ गिरती थी बर्फ/ और नगर में चलती थीं तेज हवाएँ/ तो नगरवासी सोचते थे--/ इसी झोंके में कहीं सिहरते होंगे बुद्ध/ और कितना अजब है/ कि इसी झोंके में/ कहीं हिलता होगा बाघ भी !'¹⁰ विपत्ति बाघ और बुद्ध को एक दूसरे की अनुकूलता में बदलकर एक कर देती है।

2. तो फिर क्या बचता है बाघ

बाघ क्या है? यह एक जटिल प्रश्न है। इसकी जटिलता इस बात में है कि बाघ यह भी है, वह भी है और साथ ही यह भी नहीं है और वह भी नहीं है। यह भी होने, नहीं होने और वह भी होने, नहीं होने के बीच जो जमीन बचती है उसी जमीन पर कहीं मिल सकता है-- बाघ; अपने होने और नहीं होने के अर्थों की गुराहट और थरथराहट के बीच नितांत अकेला। जैसे 'जब सूरज डूब रहा था/ एक आदमी खड़ा था शहर की सबसे ऊँची/ मीनार पर/ .../ वह आदमी उस शहर में/ जिस सब से ऊँची मीनार पर खड़ा था/ वह असल में कहीं थी ही नहीं।'¹¹ मीनार कहीं थी ही नहीं! लेकिन सूरज के 'डूबने' के समय उसकी नियति यही हो सकती थी कि वह उसी न होने पर खड़ा होकर उस महान ऐतिहासिक क्षण का साक्षात्कार करे। यह ठीक उसी तरह से हो सकता है जैसे हमारे समय के बुद्धिमानों में सबसे ज्यादा बहस उन्हीं मुद्दों को लेकर है जो दरअसल हैं ही नहीं। या इस बाघ को ही लीजिए जो इतना खुदमुखतार है कि उसके बारे में हम जो भी बोलते हैं वह दरअसल बोलता है बाघ ही--- अपने पक्ष में भी, विपक्ष में भी। और यह मानने में किसी को कोई एतराज नहीं होना चाहिए कि उत्तरमुखी बाघ जब भी बोलता है, आस-पास की सारी आवाजें अपनी जगहों को या तो बाघ की आवाज को समर्पित कर देती हैं या फिर अपने होने में, नहीं होने के सच को स्वीकार कर चुप हो लेती हैं। 'पूर्व' की प्रेरणा से जनमे उत्तरमुखी बाघ के सामने कोई शक टिक नहीं सकता है, क्योंकि शक से सवाल पैदा होते हैं और उत्तरमुखी बाघ को सवाल कतई पसंद नहीं हैं।

कहना न होगा कि आधुनिकता शक से शुरू होती है और उत्तर आधुनिकता शक के निषेध से। इधर बहुत तेजी से शक का निषेध बढ़ा है। हालाँकि, 'किताबें शक पैदा करती हैं' -- यह विषय है।'¹² आधुनिकता का प्रारंभ भी इसी 'शक' से हुआ। जो किताब 'आस्था' और 'विश्वास' को अपना आधार बनाए और 'शक' के लिए जगह न छोड़े वह किताब अपने सारांश में आधुनिक नहीं हो सकती है। 'किताबें शक पैदा करती हैं'--- यह 'आखिरी कलाम' का पहला वाक्य ही नहीं है, इसकी मूल रचनात्मक चेतना भी है। यह रचनात्मक चेतना इस अर्थ में भी महत्वपूर्ण है कि इसमें कहीं-कहीं बहुत ही कलात्मक ढंग से इसका

रचनात्मक विनियोग दूधनाथ सिंह करते हैं। बहुत पहले श्रीकांत वर्मा के यहाँ भी इसके बीज छिटके हुए मिल जाते हैं, लेकिन केदारनाथ सिंह की कविता में और खासकर बाघ में तो पूरी फसल ही लहरा रही है। और दाने! फसल के कोसा में नहीं लाल ट्रैक्टर के दाने में तब्दील हो जाने की संभावनाओं के सत्य होने के गर्भ में हैं। ऐसे दाने जिनमें बाजार जाकर ऊँचे भाव पर बिकने की नहीं, बुढ़िया के बटुली में पकने की इच्छा बलवती होती है। इच्छा और ऐसी मुखर इच्छा कि बाघ की ईर्ष्या को भी इच्छा में बदल देती है, 'फिर उसने एक दबी हुई ईर्ष्या से/ नीचे से ऊपर तक/ गौर से देखा समूचे ट्रैक्टर को/ और खुद-ब-खुद/ एक बुढ़िया की बटुली में/ पकने की इच्छा से/ हो गया लाल!'¹³ लाल होने पर भी यह बाघ उत्तरमुखी ही है। इसलिए 'सचाई यह है कि हम शक नहीं कर सकते/ बाघ के आने पर/ मौसम जैसा है/ और हवा जैसी बह रही है/ उस में कभी भी और कहीं भी/ आ सकता है बाघ'¹⁴। इस ग्लोबल समय में कभी भी, कहीं भी, किसी भी दिशा से आ सकती है विपत्ति भी और राहत भी। निषेध के निषेध की तरह केदारनाथ सिंह का शक न करना गहरे शक में डाल देता है; शक यह कि क्या सचमुच शक नहीं किया जा सकता है!

ऐसा खतरनाक समय है यह कि एक ही शीशी के ढक्कन को बाएँ तरफ से खोला जाये तो दवा और दाएँ तरफ से खोला जाये तो जहर! इसमें शक नहीं होना चाहिए। इतना साफ रहने पर भी दिक्कत यह कि तेज घूमती रौशनी में दाएँ की परछाई बाएँ पर और बाएँ की परछाई दाएँ पर इस तरह से पड़ती है कि दायाँ के बायाँ होने या बायाँ के दायाँ हो जाने में किसी को कोई शक नहीं होता है। नंगी आँखों से बाघ को देखना मुमकिन नहीं है। होता तो यह क्यों कहा होता कृष्ण ने कि 'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा । दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥'¹⁵ नंगी आँख से देखना संभव नहीं है इसलिए बाघ को परछाई से पहचानना होगा। यह समय ही ऐसा है कि बिंब, चाहे वह किसी विचार का हो या फिर बाघ का ही क्यों न हो, अपनी परछाइयों से ही पकड़ में आता है। मुश्किल यह है कि परछाइयाँ बहुत अस्थिर और एक-के-ऊपर-एक लदी-फदी होती हैं। एक उपाय और है, बाघ को जानना है तो स्त्री को जानना होगा। क्योंकि स्त्री के मन पर पड़ती है जिस किसी की परछाई, फिर वह बाघ ही क्यों न हो, जम जाती है--- कभी डर की तरह, कभी शर्म की तरह और कभी-कभी डर और शर्म के रासायनिक संयोग से बने प्रेम की तरह भी। बाघ को जानना हो तो जाना पड़ेगा स्त्री के पास और कवि की तरह कहना होगा कि 'मैं एक स्त्री को जानता हूँ/ जो एक छोटे से शहर में रहती थी/ उसके पास ढेरों कहानियाँ थीं/ बाघ के बारे में और नदियों के बारे में/ और उन बहुत-से शहरों के बारे में/ जिनके नाम किताबों में नहीं कहीं मिलते// उसका विश्वास था/ कि बाघ एक जादू है/ और इतना विकट/ कि अँधेरे में नाम लो तो हो जाएगा प्रकट !/ / उसका खयाल था/ कि यह जो प्यार है/ यह जो हम करते हैं एक-दूसरे से/ या फिर नहीं करते/ यह भी एक बाघ है/ और इतना करीब कि/ कि ध्यान से सुनो/ तो तुम अपनी छाती में सुन सकते

हो/ उसके भारी पंजों के चलने की आवाज़/ इसलिए अँधेरे में/ वह ज़्यादातर चुप रहती थी/ ज़्यादातर थरथराती रहती थी वह/ यदि कुछ कहना हुआ/ तो उसके काँपते हुए होठ/ धीरे-धीरे बोलते थे/ सिर्फ़ कुछ शब्द/ जिनका अर्थ कुछ भी हो सकता था/ या फिर कुछ भी नहीं।¹⁶ स्त्री के काँपते हुए अस्तित्व की पलकों पर ठहरे हुए आँसू की बूंदों में बाघ का पूरा प्रतिबिंब है और बाघ की लाचार गुराहट के करुण हिंसक छाप का आत्म-निवेदन भी है।

3. कथा की ओट से बाहर बाघ

एक कठिन समय में सचाई किसी-न-किसी ओट का सहारा लेकर ही सामने आती है। बालि की हत्या की सचाई को मार्यादा पुरुषोत्तम राम ओट से ही झेल पाये थे। अशोक वन में रावण के साथ वैदेही तिनके की ओट में ही संवाद कर पाई थी। पेड़ की ओट से ही भीषण नरसंहार का सामना किया था कवि के बचपन ने। कोई न कोई ओट लेकर ही कथा आगे बढ़ती है। इस देश में न ओट की कमी रही है, न कथाओं की; न बुद्ध की कमी रही है, न बाघ की। ‘कथाओं से भरे इस देश में/ मैं भी एक कथा हूँ/ एक कथा है बाघ भी/ इसलिए कई बार/ जब उसे छिपने को नहीं मिलती/ कोई ठीक-ठाक जगह तो वह धीरे से उठता है/ और जाकर बैठ जाता है/ किसी कथा की ओट में’¹⁷। सवाल यह है कि कथाओं से भरे इस देश में बाघ को कथा की ओट से कैसे बाहर निकाला जाये? यह सवाल इसलिए और भी अधिक कठिन हो जाता है क्योंकि बाघ ही नहीं, ‘मैं भी एक कथा हूँ’--- कथा यानी टेक्स्ट। टेक्स्ट को कॉन्टेक्स्ट की ओट में ही खोला जा सकता है। केदारनाथ सिंह कहते हैं, ‘पंचतंत्र के गुंफित ढाँचे से बाहर निकलकर पहली बार जब बाघ का बिंब मेरे मन में कौंधा था, तब यह बिल्कुल स्पष्ट नहीं था कि वह एक लंबी काव्य-शृंखला का बीज-बिंब बन सकता है।’¹⁸ तो यह कि पंचतंत्र का कॉन्टेक्स्ट भी ध्यान में रखना होगा। यह जरूरी है क्योंकि कवि ‘बारबार आगे की तरफ़ देखता है, पर उन अनुगूँजों, असफल प्रयत्नों, अधूरी प्रार्थनाओं और अज्ञात प्रतिध्वनियों को कभी नहीं भूलता जो उसके साथ-साथ लगी चली आती है। अतीत का अनवरत बोध उसको उतना ही बल देता है, जितना एक नन्हें-से-नन्हें जीवित क्षण की तीव्र अनुभूति।’¹⁹ बाघ एक ऐसे अविच्छिन्न सांस्कृतिक यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष करता हुआ वर्तमान का भाव-बोध है जो यथार्थ होने के साथ ही स्वप्न भी है। यथार्थ और स्वप्न जब मिल जाते हैं, अपनी पारस्परिकता में लगभग विस्थापनीय अवस्था में पहुँच जाते हैं, तभी, हाँ तभी कविता में समय का सार विस्तार पाता है। दुहराव के जोखिम पर भी याद दिलाना जरूरी है कि केदारनाथ सिंह की कविता में उपलब्ध के अनुपलब्ध और अनुपलब्ध के उपलब्ध, खोये हुए को पाने, पाये हुए को खोने और इन सबको अतिक्रमित करते हुए अचानक समय के सार को काव्य का विस्तार मिलने लग जाता है।

रघुवीर सहाय ने भी कविता की संवेदना को प्रतीकों और रूपकों से बाहर ढूँढा था। पाठकों को सावधान किया था कि ‘....प्रिय पाठक/ ये मेरे बच्चे हैं/ कोई प्रतीक नहीं हैं/ और इस कविता में/ मैं हूँ मैं/ कोई रूपक नहीं’²⁰। केदारनाथ सिंह के मन में ‘बाघ का बिंब कौंधा था’ लेकिन मन से कविता तक की यात्रा करते हुए बाघ अपनी लंबी छलाँग में बिंब और प्रतीक के निषेध तक की यात्रा कर गया। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि यथार्थ अपनी सरल जटिलता में इस तरह उलझ गया है कि अपनी पीठ पर समय के, बाघ के उन पंजों के निशान बनने लग गये हैं जो अपने नाखूनों की चमक से अभिन्न हैं। ऐसे ही खरनाक समय में चारों ओर से बिंबों की, सिंबल्स की, विदाई और विसर्जन के समाचार आने लगे हैं और कथा की ओट के बाहर बाघ को निकलना पड़ा है, बुद्ध को भी और स्वयं कवि को भी। ‘बिंब नहीं/ प्रतीक नहीं/ तार नहीं/ हरकारा नहीं/ मैं ही कहूँगा// क्योंकि मैं ही/ सिर्फ मैं ही जानता हूँ/ मेरी पीठ पर/ मेरे समय के पंजों के कितने निशान हैं// कि कितने अभिन्न हैं/ मेरे समय के पंजे/ मेरे नाखूनों की चमक से’²¹।

इस तरह बिंबों का अंत घटित हुआ और बाघ निहत्था ही सबके सामने आया, कवि ने घोषणा की कि ‘अंत में मित्रो,/ इतना ही कहूँगा/ कि अंत महज एक मुहाविरा है/ जिसे शब्द हमेशा/ अपने विस्फोट से उड़ा देते हैं/ और बच रहता है हर बार/ वही एक कच्चा-सा/ आदिम मिट्टी-जैसा ताजा आरंभ/ जहाँ से हर चीज/ फिर से शुरू हो सकती है/ फिर से खड़िया/ ककहरा फिर से/ फिर से गिनती सौ से शून्य की तरफ/ सूर्यास्त से धूपघड़ी की तरफ/ समय फिर से// यह ‘फिर’ भी/ फिर से।’²² यह सावधानी बरतना तो जरूरी बना ही रहेगा कि भाषा अपनी बुलंदियों में उस मीनार--- जो दरअसल कहीं होती ही नहीं है--- पर फिर से कटी पतंग की तरह फँसकर अपनी फरफराहट में सिर्फ हवा के बहाव की गति और दिशा की सूचना देने में ही न खप जाये। सावधानी यह कि ‘कहा जाता है कि एक सफल कविता का जन्म मानव-जाति के ज्ञात यथार्थ को संपन्नतर बनाता है। उसी तरह एक सफल बिंब का आकलन काव्य मात्र को पहले से अधिक संपन्न बना जाता है।’²³ कवि के कहने में हरकारा की भी आवाज शामिल है, मुक्त होते हुए भी बाघ बिंब में बंदी है; इस तरह बाघ अविच्छिन्न सांस्कृतिक यथार्थ और स्वप्न को संपन्नतर बनाता रहता है। यथार्थ का संपन्नतर बनना क्या राजनीति से निरपेक्ष हो सकता है। सिर्फ सत्ता की राजनीति से नहीं, मानवीय गरिमा के लिए, हँसी और रुदन के लिए, श्रम और संघर्ष के लिए जीवन में निरंतर जारी राजनीतिक प्रक्रिया से निरपेक्ष रहकर क्या यथार्थ का संपन्नतर बनना संभव है; क्या संभव है संपन्नतर यथार्थ का कवि के संघर्ष और स्वप्न में चुपके से उतर पाने की क्रिया में इस तरह लगना कि बाघ और आदमी का अंतर ही न रह जाये--- ‘इस क्रिया में/ वह (बाघ) इतना अकेला था/ और फिर भी इतना तल्लीन/ कि उस समय/ मुझे आदमी से अलग नहीं लगा वह।’²⁴

4. संक्रमण के समय में बाघ का व्याकरण

कविता से केदारनाथ सिंह चाहते क्या हैं? वे कहते हैं, 'कविता से मैं उतनी ही माँग करता हूँ, जितना वह दे सकती है। कविता--- सिर्फ इस कारण कि वह कविता है, दुनिया को बदल देगी, ऐसी खुशफहमी मैंने कभी नहीं पाली। एक रचनाकर के नाते मैं कविता की और खास तौर से एक उपभोक्ता-समाज में लिखी जानेवाली कविता की ताकत और सीमा दोनों को जानता हूँ। इसलिए इस बात को लेकर मेरे मन में कोई भ्रम नहीं है कि मेरी पहली लड़ाई अपने मोर्चे पर ही है और यह कि किस तरह कविता को मानव-विरोधी शक्तियों के बीच मानव-संवेद्य बनाये रखा जाय। परिवर्तन की दिशा में आज एक कवि की सबसे सार्थक पहल यही हो सकती है।'²⁵ रघुवीर सहाय भी अपने मोर्चे पर ही लड़ना जरूरी मानते हैं, 'सबसे मुश्किल और एक ही सही रास्ता है कि मैं सब सेनाओं में लड़ूँ--- किसी में ढाल सहित किसी में निष्कवच होकर--- मगर अपने को अंत में मरने सिर्फ अपने मोर्चे पर दूँ--- अपने भाषा के, शिल्प के और उस दोतरफा जिम्मेवारी के मोर्चे पर जिसे साहित्य कहते हैं। भाइयो, अगर हम अपनी दुनिया में जूझते-जूझते जिंदा नहीं रह सकते तो कम-से-कम इतना करें कि जब मरना पड़े तो उसी में मरने की कोशिश करें।'²⁶ एक ऐसे समय में जब कविता का 'अपना मोर्चा' या तो रंगीन धुआँ से घिरा हुआ है या फिर निर्जन होते जाने की उदासी के सामने निर्वस्त्र है, हिंदी के इन महत्वपूर्ण कवियों के काव्य-अनुभवों को सँजोना होगा। संक्रमण काल के अंतर्विरोधों में इन्हीं काव्य-अनुभवों से बनेगा बाघ का व्याकरण।

राजनीतिक दृष्टि के विनियोग के बिना बाघ के व्याकरण को समझना संभव नहीं है। हमारे समय में उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण के बदौलत विराजनीतिकरण एक राजनीतिक मुहावरा बन गया है। इस मुहावरे को तो समग्र राजनीति ही पाखंड लगती है, मार्क्सवाद का तो कहना ही क्या! केदारनाथ सिंह कहते हैं, 'मार्क्सवाद में मेरी आस्था है, हालाँकि मैं किसी वामपंथी दल का सदस्य कभी नहीं रहा। जहाँ तक कविता में राजनीतिक संदर्भ के होने या न होने की बात है, मैं मानता हूँ कि राजनीति से निरपेक्ष होकर आज कुछ भी नहीं लिखा जा सकता। परंतु राजनीतिक कविता केवल राजनीतिक घटनाओं पर लिखी हुई रचना होती है, ऐसा मैं नहीं मानता। अपनी कविताओं के पक्ष में कुछ भी कहना हमेशा अप्रीतिकर लगता है। पर इतना कह दूँ कि मेरी बहुत-सी कविताओं के तल में राजनीतिक आदतें और अनुगूँजे सुनी जा सकती है।'²⁷ यह सच है कि 'राजनीति से निरपेक्ष होकर आज कुछ भी नहीं लिखा जा सकता' तो बिना किसी लागलपेट के कहना ही होगा कि बाघ की राजनीतिक सापेक्षता को खोज निकालना भी उतना ही जरूरी है। इसी खोज में केदारनाथ सिंह की कविताओं की कुछ 'राजनीतिक

आदतें और अनुगूँजे' भी मिल जायेंगी, जैसे खुद केदारनाथ सिंह को 'पंचतंत्र के गुंफित ढाँचे में' मिल गया था बाघ।

उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण के इस दौर में भारतीय उपमहाद्वीप राजनीतिक रूप से आंतरिक उठापटक, सांस्कृतिक रूप से तहस-नहस, और आर्थिक रूप से जन-विच्छिन्नता की ओर तेजी से बढ़ रहा है। वैश्विक यथार्थ और स्वप्न के साथ ही और कई बार उसके दबाव के चलते भी उपमहाद्वीपीय यथार्थ और स्वप्न के टकरावों और अंतरालंबनों को भी समझना होगा। इस समझ के कायम होने की प्रक्रिया में कविता की भी भूमिका है। इस भूमिका के बारे में केदारनाथ सिंह कहते हैं, 'कविता की भूमिका या उसके पूरे स्वरूप पर विचार करते हुए मुझे यह आवश्यक लगता है कि उस ठोस संदर्भ को दृष्टि से ओझल न होने दिया जाय, जिसमें एक भारतीय कवि आज रचनारत है। इस तथ्य की ओर बहुत कम ध्यान जाता है कि जिस सीमा रेखा पर खड़े होकर आज ज्यादातर भारतीय कविता लिखी जा रही है, वहाँ हमारी जातीय चेतना के दो छोर यानी शहर और गाँव अजब ढंग से घुले-मिले होते हैं। कई बार इस घुलावट को कवि जानता है और कई बार वह बिना जाने ही उसे अपने संपूर्ण बोध का हिस्सा बन जाने देता है। भारतीय कवि के वास्तव-बोध की एक यह ऐसी विशेषता है जो उसे पश्चिमी काव्य संवेदना से अलग करती है।'²⁸ उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण के दौर में उपभोक्ता समाज के विस्तार के उद्देश्य से नगरीकरण की तीव्र प्रक्रिया का भी समावेश है। इसमें प्रत्यक्षतः कुछ शुभ भी है, लेकिन परोक्षतः नैपथ्य में अंधकार का एक बड़ा व्यास भी बन रहा है। भारत जैसे ग्रामों के महादेश में नगरीकरण की यह प्रक्रिया बहुत निरापद नहीं है। मध्य-वर्ग के आयतन को निरंतर जारी संकोचन से बचाने में इस नगरीकरण की एक भूमिका हो सकती है, लेकिन इस प्रक्रिया में पिछड़े हुए समुदायों के और अधिक पिछड़ते जाने की आशंका की तरह, पिछड़े हुए ग्रामों के और अधिक पिछड़ते जाने, अर्थात् राष्ट्र की आर्थिक प्रक्रिया से बाहर हो जाने एवं साथ ही लगभग स्वचालित ग्रामीण आर्थिक प्रक्रिया के स्वतः नष्ट होते जाने की आशंका भी कम नहीं है। इसलिए पश्चिमी काव्य से अलग करनेवाली भारतीय कवि के भाव-बोध की विशिष्टता को, जो शहर और गाँव की अदभुत घुलावट से नाभिनालबद्ध होती है, बचाना जरूरी है। बाघ, अपनी तमाम गुराहट और थरथराहट के साथ, इस बचाव में लगकर अपनी अनिवार्य परिणति में बुद्ध से अभिन्न हो जाता है।

बुद्ध में परिणत बाघ की भाषा को संवेदना के पुराने व्याकरण से शुद्ध करना संभव नहीं है। नये व्याकरण से भी मुश्किल ही है। फिर? फिर इसे आदिम मिट्टी-जैसे ताजा आरंभ से समझा जा सकेगा। बाघ भले ही बुद्ध में परिणत हो गया हो, 'पर मित्रो, बाघ ही तो है/ कहते हैं सदियों पहले/ वह एक शाम आ गया था/ वैयाकरण पाणिनि की भाषा की कुटी

में/ किसी पुरातन भोजपत्र की गंध से/ उलझ गया था/ जिसे सुलझाते हुए बैठे थे वे/ कि बाहर सुनाई पड़ी/ गुराने की आवाज// वैयाकरण ऋषि के लिए/ यह एक बिल्कुल नई समस्या थी/ क्योंकि उनकी स्मृति में जितने भी सूत्र थे/ उनमें से किसी में वह आवाज/ अँटती ही नहीं थी// सो वे बाहर निकले/ और बाघ की ओर उँगली उठाते हुए कहा/ अशुद्ध!/ एकदम अशुद्ध बोलते हो!!! इसके बाद क्या हुआ/ जनश्रुति यहाँ चुप है'²⁹। जनश्रुति चुप है, लेकिन बाघ को जैसे ही पता चला कि वह किसी कुम्हार की आँख में नहीं, बल्कि दीवार पर टँगा है, वैसे ही 'बाघ ने पहली बार/ चिल्लाना चाहा/ पर चिल्लाना उसे आता नहीं था/ फिर भी कहीं अंदर जैसे चिल्ला रहा था वह/ कि वो देखो.... वो देखो/ वह जो वहाँ टँगी है दीवार पर/ वह मेरी--- हाँ, हाँ/ वह मेरी देह है।'³⁰ बाघ ने दीवार पर टँगी अपनी देह को पहचान लिया है, तो एक दिन उसकी आत्मा भी उसमें अपनी जगह ले लेगी। फिर जनश्रुति चुप नहीं रहेगी। इतिहास साक्षी है कि जनश्रुति की चुप्पी के टूटने तक बाघ बुद्ध में और यथार्थ स्वप्न में इसी तरह आवाजाही करते रहते हैं। इसी आवाजाही में कविता की आँख में सभ्यता तलाशती रहती है, अपना 'आदिम मिट्टी-जैसा ताजा आरंभ'।

संदर्भ:

1. केदारनाथ सिंह: केदारनाथ सिंह की कुछ पुरानी अप्रकाशित कविताएँ: सं. भारत यायावर, राजा खुगशाल: वाणी प्रकाशन
2. केदारनाथ सिंह: बाघ (बारह) - लंबी कविता: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
3. केदारनाथ सिंह: बाघ (बारह) - लंबी कविता: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
4. केदारनाथ सिंह: अकाल में सारस: अकाल में दूब: राजकमल प्रकाशन
5. सुमित सरकार: आधुनिक भारत 1885-1947: राजकमल प्रकाशन (सुमित सरकार ने कहा है कि भारतीय इतिहास के जिन छ: दशकों का उन्होंने सर्वेक्षण किया है उनकी सार्थकता और प्रासंगिकता तभी है जब उन्हें संघर्ष के माध्यम से परिवर्तन की जटिल प्रक्रिया के रूप में देखा जाये--- एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में जो अभी पूरी नहीं हुई है। उन्होंने इतिहास और उसके अंतर्विरोधों के समुचित उपसंहार के लिए यह उद्धरण दिया है।
6. केदारनाथ सिंह से देवेन्द्र कुमार चौबे की बातचीत: कवि केदारनाथ सिंह: सं. भारत यायावर, राजा खुशाल: वाणी प्रकाशन
7. श्रीकांत वर्मा: मगध 1984 : प्रतिनिधि कविताएँ : राजकमल पेपर बैक्स
8. श्रीकांत वर्मा: मगध 1984 : प्रतिनिधि कविताएँ : राजकमल पेपर बैक्स
9. श्रीकांत वर्मा: कोसल में विचारों की कमी है: मगध 1984 : प्रतिनिधि कविताएँ : राजकमल पेपर बैक्स
10. केदारनाथ सिंह: बाघ (चार) - लंबी कविता: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
11. केदारनाथ सिंह: बाघ (उन्नीस) - लंबी कविता: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
12. दूधनाथ सिंह: आखिरी कलाम: गृह-जंजाल: राजकमल प्रकाशन, 2003
13. केदारनाथ सिंह: बाघ (पाँच) - लंबी कविता: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

- 14.केदारनाथ सिंह: बाघ (दो) - लंबी कविता: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
- 15.गीता: अध्याय- 11(8)
- 16.केदारनाथ सिंह: बाघ (आठ) - लंबी कविता: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
- 17.केदारनाथ सिंह: बाघ (तीन) - लंबी कविता: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
- 18.केदारनाथ सिंह: बाघ के बारे में - बाघ लंबी कविता: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
- 19.केदारनाथ सिंह: कविता का सीधा संबंध भाषा से है -- तीसरा सप्तक के साथ प्रकाशित वक्तव्य का अंश, सं. भारत यायावर, राजा खुशाल: वाणी प्रकाशन
- 20.रघुवीर सहाय: आत्महत्या के विरुद्ध: राजकमल प्रकाशन, 1967
- 21.केदारनाथ सिंह: बाघ (आमुख) - लंबी कविता: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1998
- 22.केदारनाथ सिंह: बाघ (इक्कीस) - लंबी कविता: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
- 23.केदारनाथ सिंह: कविता का सीधा संबंध भाषा से है -- तीसरा सप्तक के साथ प्रकाशित वक्तव्य का अंश, सं. भारत यायावर, राजा खुशाल: वाणी प्रकाशन
- 24.केदारनाथ सिंह: बाघ (सत्रह) - लंबी कविता: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1998
- 25.केदारनाथ सिंह: साहित्य अकादमी अर्पण समारोह के अवसर पर दिये गये वक्तव्य से, सं. भारत यायावर, राजा खुशाल: वाणी प्रकाशन
- 26.रघुवीर सहाय: आत्महत्या के विरुद्ध: राजकमल प्रकाशन, 1967
- 27.केदारनाथ सिंह से देवेंद्र कुमार चौबे की बातचीत: कवि केदारनाथ सिंह: सं. भारत यायावर, राजा खुशाल: वाणी प्रकाशन
- 28.केदारनाथ सिंह: साहित्य अकादमी अर्पण समारोह के अवसर पर दिये गये वक्तव्य से, सं. भारत यायावर, राजा खुशाल: वाणी प्रकाशन
- 29.केदारनाथ सिंह: बाघ (इक्कीस) - लंबी कविता: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1998
- 30.केदारनाथ सिंह: बाघ (पंद्रह) - लंबी कविता: भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1998

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।

सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान